DOI: 10.51220/hjssh.v9i1.6

Himalayan J. Soc.Sci. & Humanities Vol- 9 pp.41 - 44, December, 2014, ISSN. 0975 - 9891

महाभारत में वर्णित दानधर्म का माहात्म्य

स्मृति नेगी
संस्कृत विभाग,
हे0न0ब0ग0 विश्वविद्यालय परिसर, पौड़ी गढ़वाल

Received: 29.10.2014 Revised: 12.11.2014 Accepted: 27.12.2014

ABSTRACT

दान एक धार्मिक क्रिया ही नहीं, अपितु एक सामाजिक दायित्व भी है, यह इहलौकिक ही नहीं, अपितु पारलौकिक फलों को देने वाला है। किसी दूसरे को अपनी वस्तु का स्वामी बना देना ही 'दान' हैं। दान की महिमा प्राय: सभी धर्म के साहित्यों में गायी गई है। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त उत्तरवर्ती ग्रन्थों यथा रामायण, महाभारत में भी दान के स्वरूपों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। महाभारत में अनेक प्रकार के दानों तथा उनके माहात्म्य का उल्लेख है। प्रस्तुत शोधपत्र के माध्यम से महाभारत में वर्णित दान के विषय में प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

KEY WORDS- महाभारत, दानधर्म

प्राग्वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक प्राय: सभी युगों के जनजीवन में दान किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीय संस्कृति में गृहस्थाश्रम में दान देने को प्रमुख अधिकार माना गया है। कोई भी धार्मिक क्रिया बिना दान के अपूर्ण मानी जाती है। भारतीय संस्कृति में त्याग की भावना सर्वत्र दृष्टिगत है। जीवन के प्रत्येक आयाम में त्याग की भूमिका विशिष्ट है। अपने श्रम से कमाये गये धन को किसी अन्य की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु व्यय करना भारतीय संस्कृति की ही शिक्षा है। इसी अर्जित धन को समाज के सदुपयोग में व्यय करने की परम्परा को 'दान' कहते है।

धर्म के अनेकानेक स्कन्ध में दान एक महत्त्वपूर्ण स्कन्ध है। दान शब्द 'दा' दाने धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। त्याग, विसर्जन, वितरण आदि इसके अनेकानेक अर्थ हैं।[1] डॉ0 पी0वी0 काणे के अनुसार दान उसे कहते हैं, जिसके द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति को अपनी वस्तु का स्वामी बना दिया जाता है[2]। कर्त्तव्यपालन के लिए सुपात्र को जब कोई वस्तु दी जाती है तो उसे धर्मदान कहते हैं। मनुस्मृति[3] में उल्लिखित है कि सतयुग में तप, त्रेतायुग में ज्ञान, द्वापर युग में यज्ञ तथा कलि में केवल दान को महर्षियों ने प्रधान धर्म कहा है।

तप: परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।। (मनुस्मृति 1/96)

अपनी वस्तु का स्वामी, किसी दूसरे को बना देना दान कहलाता है। मानसिक, वाचिक, या शारीरिक रूप से दान-ग्रहण किया जाता है। दान शब्द के लिए धर्मशास्त्र में प्रतिग्रह शब्द प्रयुक्त होता है। प्रतिग्रह किसी

©SHARAD

वस्तु की विशिष्ट रीति से स्वीकृति को कहते हैं। किसी वस्तु को मात्र ग्रहण करना ही प्रतिग्रह नहीं है। क्योंकि प्रतिग्रह से विशिष्ट पुण्य की प्राप्ति होती है, शास्त्रीय रीति के प्रतिकूल दिया गया दान आध्यात्मिक पुण्य की उपलब्धि नहीं करा सकता, अत: मित्र को खिलाना या भिखारी को भिक्षा देना शास्त्रसम्मतदान नहीं है। देवल[4] के अनुसार शास्त्रमोदित विधि से शास्त्र द्वारा बताये गये व्यक्ति को जब धन प्रदान किया जाये तब उसे दान कहा जाता है।

अर्थानामुदिते पत्रे यथावत्प्रतिपादनम्।
दानमित्यभिनिर्दिष्टं व्याख्यानं तस्य वक्ष्यते।

दान के सन्दर्भ में प्राचीन और परवर्ती युगों के बीच कोई भेद नहीं है। ऋग्वेद[5] में दान के विविध फलों का और उससे दीर्घ जीवन और स्वर्ग की प्राप्ति का भी वर्णन है। वैदिक काल में प्रमुख रूप से गाय, अश्व-धन आदि दान स्वरूप दिये जाते थे। बेदोत्तर साहित्य में यथा महाभारत में दान की वस्तुएँ प्राय: वैदिक काल की वस्तुओं के समान ही हैं। महाभारत में दान सम्बन्धी अनेक बातों का उल्लेख किया गया है। दान के अनेक प्रकार हैं-नित्य, नैमित्तिक, काम्य, तथा सात्विक, राक्षस, एवं तामस। दान के विभिन्न ग्रन्थों में षड् अंगों का वर्णन मिलता है, षड् अंगों के अन्तर्गत दाता, प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, देय, काल, एवं देश।

दान के षड् अंगों में महत्त्वपूर्ण अंग दाता है। दानदाता कोई भी व्यक्ति हो सकता है। चाहे वो यज्ञकर्ता हो या नारी अथवा शूद्र हो। यद्यपि शूद्र को यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त नहीं था तथापि वे अन्य द्विजातियों की भाँति दान कर सकते थे। महाभारत[6] में कहा गया है कि जो दाता अक्षय पुण्य करना चाहता है उसे अपनी सर्वाधिक प्रिय वस्तु को और जो भी (दान योग्य वस्तु) इस संसार में वांछनीय हो उस व्यक्ति को दान में दे देनी चाहिए जो सद्गुणी हो।

यद् यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे।
तत् तद् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता।। (अनुशासनपर्व 59/7)

दान का द्वितीय अंग प्रतिग्रहीता है। प्रतिग्रहीता वह व्यक्ति होता है, जो दान या प्रतिग्रह ग्रहण करता है। प्रतिग्रहीता बिना दान निष्प्रयोजन है। क्योंकि सुपात्र को दी गई साधारण वस्तु भी असाधारण पुण्य का कारण हो सकती है। महाभारत[7] के वनपर्व में प्रतिग्रहीता के बारे में कहा गया है कि न केवल दान देने में वरन् दान लेने वाले पर भी दान की सार्थकता निर्भर करती है। पिता आदि गुरूजन, मिथ्यावादी, पापी, कृतघ्न, ग्राम-पुरोहित, क्रय-विक्रय करने वाले, शूद्र से यज्ञ कराने वाले, नीच-ब्राह्मण, शूद्रा के पति ब्राह्मण, साँप को पकड़कर व्यवसाय करने वाले तथा सेवकों और स्त्री समूह को दिया गया दान व्यर्थ है।

गुरौ चानृतिके पापे कृतघ्ने ग्रामयाजके।
वेदविक्रयिणे दत्तं तथा वृषलयाजके।।[4]
ब्रह्मबन्धुषु यद् दत्तं यद् दत्तं वृशलीपतौ।
स्त्रीजनेषु च यद् दत्तं व्यालग्राहे तथैव च।।
परिचारकेषु यद् दत्तं वृथा दानानि षोडश।

महाभारत में कहा गया है कि याचना करने वाले की अपेक्षा याचना न करने वाले को दिया हुआ दान ही श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी होता है तथा अधीर हृदय वाले कृपण मनुष्य की अपेक्षा धैर्य धारण करने वाले ही विशेष सम्मान का अधिकारी है।

श्रेयो वै याचक: पार्थ दानमाहुरयाचते।
अर्हत्तमो वै धृतिमान् कृपणादधृतात्मन:।[8]

दाता और प्रतिग्रहीता के समान दान का तृतीय अंग श्रद्धा है। श्रद्धापूर्वक लिया और दिया दान दाता और प्रतिग्रहीता दोनों के लिए कल्याणकारी माना गया है। सत्पात्र को भी अश्रद्धा से दिया गया दान फलीभूत नहीं होता। श्रद्धा के अभाव को भगवान श्रीकृष्ण भी स्पष्ट रूप से कहते हैं-

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह[9]।। (श्रीमद्भगवद्गीता-17/28)

इसलिए दान में त्याग की भावना का होना आवश्यक माना गया है।

दान का चतुर्थ अंग धर्मयुक्त देय है। देय वस्तु वह है जो बिना किसी को सताये या दु:ख दिए अपने परिश्रम से अर्जित हो चाहे वह छोटी या बड़ी उसका समान महत्त्व है। याज्ञवल्क्य ने दान में सर्वोत्तम दान भूमि, गाय और विद्या को ही बताया है। महाभारत में अनेक प्रकार के दानों तथा उनके महात्म्य का उल्लेख है। महाभारत में गोदान के सन्दर्भ में कहा गया है कि गोदान से मानव के पापों का विमोचन होता है। मनुष्य गोदान करने से अपनी सात पीढ़ी पहले के पितरों का और सात पीढ़ी आगे आने वाली संतानों का उद्धार करता है।

गोप्रदानात् तारयते सप्त पूर्वांस्तथा परान्।[10]

इसी प्रकार भूमिदान के बारे में कहा गया है कि वस्त्र, रत्न, पशु और धान-जौ आदि नाना प्रकार के अन्न इन सबको देने वाली पृथ्वी ही हैं, अत: पृथ्वी का दान करने वाला मनुष्य सदा समस्त प्राणियों में सबसे अधिक अभ्युदयशील होता है। इस जगत में जब तक पृथ्वी की आयु है तब तक भूमिदान करने वाला मनुष्य समृद्धशाली रहकर सुख भोगता है।

यावद् भूमेरायुरिह तावद् भूमिद एधते।[11]

इसी प्रकार से अन्नदान को सभी दानों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अन्नदान का अर्थ है जीवन की आधारभूत आवश्यकता की पूर्ति करना। जीवन-धारण करना तथा करवाना सर्वोत्तम धर्म है, अत: इससे सम्बद्ध दान ही सर्वोत्तम है। कहा गया है कि-

अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति।[12]

दान के अन्तिम दो अंग उचित काल एवं स्थान है जिनके बारे में महाभारत में नियम निर्धारित किये गये हैं। किसी विशिष्ट नक्षत्र में दिये गये दान किसी विशेष दिन यथा एकादशी पूर्णिमा को दिये गये दान, विशेष स्थान यथा नदी तट और तीर्थस्थान में दिये गये दान विशेष अवसर यथा श्रद्धा और उसके अवसर पर दिये गये दान सामान्य दान की अपेक्षा अधिक पुण्य प्राप्त कराते थे।

अत: आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जीवन की उन्नति का मूल दान है। इसलिए दान के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि दान धार्मिक क्रियाओं का आवश्यक और अनिवार्य अंग है। दान के बिना कोई भी धार्मिक अनुष्ठान पूर्ण नहीं होता। इस प्रकार प्राचीन काल से चली आ रही यह दान की प्रकिया कलियुग में विशेष फल प्रदाता है।

आभार

शोधार्थी अपनी शोध निर्देशक डॉ0 कुसुम डोबरियाल संस्कृत विभाग हे0न0ब0 गढ़वाल विश्वविद्यालय परिसर पौड़ी गढ़वाल के प्रति आभार प्रकट करती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1-शब्दकल्पद्रुम पृ0 699
2-पी0 वी0 काणे धर्मशास्त्र का इतिहास,भाग-1 पृ0-488
3-मनुस्मृति 1/86
4-देवल दानक्रिया कौमुदी पृ0 स0 2
5-ऋग्वेद 9/107/2
6-महाभारत, अनु0 पर्व,59/7
7-महाभारत, वनपर्व, अ0 200 श्लोक 7-8
8-महा0 अनुशासनपर्व 60/2
9-श्रीमद्भगवद्गीता अ0 17/28
10-महा0 अनुशासनपर्व 74/8
11-वही-62/4
12-वही-63/6